Sanvahak, Vol.-2; Issue-1 (Jan.-March) 2026 : PP-33-40

Sanvahak (संवाहक)

A Peer Reviewed, Multidisciplinary (All Subjects) & Multilingual (All Languages) Quarterly Research journal

ISSN : 3108-1347 (Online)

Vol.-2; Issue-1 (Jan.-March) 2026

Page No.- 33-40

DOI : 10.71037/sanvahak.v2i1.06

©2026 **Sanvahak**

https:// sanvahak.gyanvividha.com

Author's:

प्रशांत कुमार सिंह

शोधार्थी, हिन्दी एवं आधुनिक भारतीय भाषा विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय (केंद्रीय विश्वविद्यालय), प्रयागराज, उत्तर प्रदेश.

Corresponding Author :

प्रशांत कुमार सिंह

शोधार्थी, हिन्दी एवं आधुनिक भारतीय भाषा विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय (केंद्रीय विश्वविद्यालय), प्रयागराज, उत्तर प्रदेश.

हिन्दी कथा साहित्य में बदलती पारिवारिक संरचना और विघटन : एक विश्लेषणात्मक अध्ययन

सारांश : यह शोध पत्र हिन्दी कथा साहित्य के परिप्रेक्ष्य में भारतीय पारिवारिक संरचना में आए ऐतिहासिक, सामाजिक, आर्थिक और मनोवैज्ञानिक बदलावों का गहन एवं विस्तृत विश्लेषण प्रस्तुत करता है। भारतीय समाज की मूल इकाई, जो सदियों से सामूहिकता, सहिष्णुता, त्याग और पारस्परिक निर्भरता पर आधारित संयुक्त परिवार हुआ करती थी, आज औद्योगिकीकरण, शहरीकरण, वैश्वीकरण और व्यक्तिवाद के तीव्र प्रभाव में विघटित होकर एकाकी (नाभिकीय) परिवार और यहाँ तक कि विखंडित संबंधों में तब्दील हो गई है। प्रस्तुत अध्ययन मुंशी प्रेमचंद के 'गोदान' से लेकर उषा प्रियंवदा की 'वापसी', भीष्म साहनी की 'चीफ़ की दावत', मन्नू भंडारी के 'आपका बंटी', मोहन राकेश के 'आधे-अधूरे', कृष्णा सोबती के 'मित्रो मरजानी' और अलका सरावगी के 'कलिकथा वाया बाईपास' जैसी युगांतरकारी रचनाओं के सूक्ष्म पाठ्यात्मक विश्लेषण के माध्यम से पारिवारिक विघटन के बहुआयामी कारणों की पड़ताल करता है। यह अध्ययन स्पष्ट करता है कि पारिवारिक विघटन केवल भौतिक घरों का टूटना नहीं है, बल्कि यह मानवीय संवेदनाओं का क्षरण, अर्थ (पैसे) की प्रधानता, स्त्री-विमर्श के उदय से उपजे नए संघर्ष, बाल मनोविज्ञान पर पड़ते आघात और पीढ़ियों के बीच बढ़ते वैचारिक अंतराल का त्रासद परिणाम है। निष्कर्षतः, यह पत्र स्थापित करता है कि समकालीन हिन्दी साहित्य केवल इस सामाजिक विघटन का मूक दर्शक नहीं है, बल्कि यह बदलते जीवन-मूल्यों, उपभोक्तावादी संस्कृति और खोखले होते मानवीय संबंधों का एक प्रामाणिक और निर्मम समाजशास्त्रीय दस्तावेज़ है।

मुख्य शब्द: पारिवारिक संरचना, विघटन, पीढ़ी संघर्ष, वैश्वीकरण, बाल मनोविज्ञान, हिन्दी कथा साहित्य, महानगरीय बोध, व्यक्तिवाद, यथार्थवाद, पितृसत्ता।

1. प्रस्तावना: पारिवारिक संरचना का समाजशास्त्रीय और साहित्यिक परिदृश्य : परिवार मानव समाज की सबसे प्राचीन, सार्वभौमिक और सुदृढ़ संस्था रही है, जो व्यक्ति के समाजीकरण, मनोवैज्ञानिक सुरक्षा और सांस्कृतिक मूल्यों के हस्तांतरण का प्रमुख माध्यम है। पारंपरिक भारतीय समाज में 'संयुक्त परिवार' की अवधारणा केवल एक आर्थिक व्यवस्था या आश्रय स्थल नहीं थी, बल्कि यह सामूहिकता, सहिष्णुता, और बड़ों के प्रति असीम सम्मान जैसे उदात्त आदर्शों पर टिकी एक संपूर्ण जीवन शैली थी। परंतु बीसवीं शताब्दी के आरंभ से ही औपनिवेशिक नीतियों, पूंजीवादी अर्थतंत्र, और बाद में स्वातंत्र्योत्तर आधुनिकता ने इस सुदृढ़ ढाँचे में सेंध लगानी शुरु कर दी। डॉ. गोपाल राय अपने ऐतिहासिक ग्रंथ 'हिन्दी उपन्यास का इतिहास' में रेखांकित करते हैं कि यूरोपीय उपन्यास के विकास में पूँजीवादी अर्थतन्त्र और मध्य वर्ग का योगदान महत्त्वपूर्ण माना जाता है, और जब यह मध्य वर्ग भारत में विकसित हुआ, तो उसने अपनी वैयक्तिक और महत्वाकांक्षी आकांक्षाओं के लिए पारंपरिक पारिवारिक ढाँचे को छिन्न-भिन्न करना शुरु किया (राय, 2025, पृ. 498)।

हिन्दी कथा साहित्य ने समाज के इस अत्यंत जटिल संक्रमण काल को बड़ी सूक्ष्मता और यथार्थवादिता के साथ पकड़ा है। प्रेमचंद के युग में जहाँ पारिवारिक विघटन का मुख्य कारण ग्रामीण ऋणग्रस्तता, अशिक्षा और जमींदारी शोषण था, वहीं साठोत्तरी (1960 के बाद की) कहानी और उपन्यास तक आते-आते यह विघटन महानगरीय बोध, अस्तित्ववादी संकट, स्त्री-स्वातंत्र्य की चेतना और घोर भौतिकवाद में तब्दील हो गया। प्रसिद्ध आलोचक नामवर सिंह अपनी पुस्तक 'कहानी: नयी कहानी' में इस वैचारिक संघर्ष और आधुनिक भाव-बोध के ऐतिहासिक प्रस्थान बिंदु को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि आधुनिक साहित्य उस व्यक्ति की कथा कहता है जो समाज और परिवार से कटकर अपने 'अकेलेपन' और 'परायेपन' से निरंतर जूझ रहा है (सिंह, 1964, पृ. 13)। इस प्रकार, हिन्दी कथा साहित्य केवल कहानियों का संग्रह न होकर भारतीय पारिवारिक समाजशास्त्र का एक जीवंत इतिहास बन जाता है।

2. कृषक समाज में पारिवारिक टूटन की आहट: 'गोदान' का यथार्थ : मुंशी प्रेमचंद का अंतिम पूर्ण उपन्यास 'गोदान' (1936) भारतीय कृषक जीवन का महाकाव्य होने के साथ-साथ ग्रामीण संयुक्त परिवार के टूटने और बिखरने का एक अत्यंत प्रामाणिक आख्यान भी है। प्रेमचंद ने अपने साहित्य में आदर्शोन्मुख यथार्थवाद से विशुद्ध यथार्थवाद की ओर यात्रा करते हुए यह स्पष्ट किया कि जब आर्थिक विपन्नता और शोषण चरम पर होता है, तो सबसे पवित्र रक्त संबंध भी स्वार्थ की वेदी पर बलि चढ़ जाते हैं (प्रेमचंद, 1936, पृ. 357)।

'गोदान' में पारिवारिक संरचना का विघटन और बिखराव मुख्यत : दो भिन्न स्तरों पर परिलक्षित होता है। प्रथम स्तर पर होरी और उसके सगे भाइयों (हीरा और सोभा) के बीच का अलगाव है। होरी, जो पितृसत्तात्मक संयुक्त परिवार का आदर्श मुखिया है, अपने भाइयों को पुत्रवत पालता है और हर संभव प्रयास करता है कि परिवार एक रहे। किंतु, भयानक गरीबी, कर्ज के बोझ और ग्रामीण स्वार्थ के कारण परिवार में कलह जन्म लेती है। हीरा द्वारा होरी की प्रिय गाय को ज़हर देना केवल एक आपराधिक या ईर्ष्यापूर्ण कृत्य नहीं है, बल्कि यह उस ग्रामीण पारिवारिक ईर्ष्या, नैतिक पतन और टूटन का प्रतीक है जो महाजनी सभ्यता के असहनीय दबाव में पैदा हुआ (शर्मा, 2014, पृ. 96)। इसके बावजूद, होरी अपने ग्रामीण मूल्यों से बंधा रहता है और हीरा के भाग जाने पर उसकी पत्नी पुनिया का पालन-पोषण करता है, जो होरी के भीतर बचे हुए पारिवारिक मूल्यों को दर्शाता है।

द्वितीय स्तर पर, होरी और उसके युवा पुत्र गोबर के बीच का गहरा वैचारिक और भौगोलिक अंतराल पारिवारिक विघटन को रेखांकित करता है। गोबर नई पीढ़ी का प्रतिनिधि है, जो पुरानी पीढ़ी की तथाकथित 'मर्यादा' (मरजाद) और ऋण को ईश्वर की नियति मानकर सहने की प्रवृत्ति का घोर विरोधी है। वह ग्रामीण शोषण, ज़मींदार राय साहब की बेगार और महाजनों के जाल से तंग आकर शहर (लखनऊ) पलायन कर जाता है। गोबर का यह विस्थापन केवल भौगोलिक नहीं है; यह संयुक्त परिवार की जड़ता से नाभिकीय और व्यक्तिवादी पारिवारिक संरचना

की ओर प्रस्थान है। शहर जाकर गोबर जब कुछ पैसे कमाकर लौटता है, तो उसका व्यवहार अपने माता-पिता के प्रति भी नितांत आत्मकेंद्रित, व्यावसायिक और रूखा हो जाता है। प्रेमचंद यहाँ यह स्थापित करते हैं कि पूंजीवादी व्यवस्था—चाहे वह गाँव के जमींदार नोखेराम हों, झिंगुरीसिंह हों या शहर के मिल मालिक खन्ना—किसान के केवल हाड़-मांस और श्रम का शोषण नहीं करती, बल्कि वह उसकी पारिवारिक एकता, भाईचारे और आत्मीयता को भी समूल नष्ट कर देती है। होरी की चिंता कि "कर्ज वह मेहमान है जो एक बार आकर फिर जाने का नाम नहीं लेता," पूरे परिवार को निगल जाने वाले एक अजगर की तरह चित्रित की गई है।

3. स्वातंत्र्योत्तर मध्यवर्गीय परिवार: मूल्यहीनता, उपयोगितावाद और अवसरवादिता : स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात, विशेषकर छठे दशक (1950-1960) में, भारतीय समाज का तेज़ी से शहरीकरण और आधुनिकीकरण हुआ। इस दौर में पनपी 'नयी कहानी' ने महानगरीय मध्यवर्ग की विडंबनाओं, अकेलेपन, अजनबीपन और पारिवारिक बिखराव को अपना मुख्य स्वर बनाया। यहाँ परिवार के टूटने का कारण कोई बाहरी शोषक या महाजन नहीं था, बल्कि व्यक्ति के भीतर बैठा अनियंत्रित स्वार्थ, महत्वाकांक्षा और अवसरवाद था।

3.1. 'चीफ़ की दावत' में उपयोगितावादी दृष्टिकोण और संवेदनहीनता : भीष्म साहनी की 1956 में 'पहला पाठ' कहानी संग्रह में प्रकाशित 'चीफ़ की दावत' मध्यवर्गीय अवसरवादिता, खोखलेपन और नैतिक पतन का एक क्रूर दस्तावेज़ है (साहनी, 1956, पृ. 1)। कहानी का नायक मिस्टर शामनाथ अपनी पदोन्नति के लिए अपने घर पर अपने अँग्रेज़ चीफ़ को दावत पर आमंत्रित करता है। इस आयोजन में घर की हर वस्तु, कुर्सी, मेज़, फूल, नैपकिन आदि को अत्यंत सलीके से सजाया जाता है, सिवाय शामनाथ की अपनी वृद्ध माँ के। आधुनिकता के नशे में चूर शामनाथ अपनी माँ को घर का फालतू, भद्दा और अप्रचलित सामान समझता है।

शामनाथ अपनी पत्नी से अंग्रेजी में बड़ी ही निर्ममता से पूछता है, "माँ का क्या होगा?" (साहनी, 1956, पृ. 2)। यह एक वाक्य आधुनिक मध्यवर्गीय परिवार में वृद्धों की दयनीय स्थिति को पूरी तरह स्पष्ट कर देता है। वह माँ, जिसने संभवतः जेवर बेचकर बेटे को पढ़ाया-लिखाया, अब उसके आधुनिक 'ड्राइंग रूम' की पाश्चात्य संस्कृति में फिट नहीं बैठती। शामनाथ माँ को पिछवाड़े भेजने या कोठरी में छिपने की हिदायत देता है। उसे डर है कि उसकी बीमार माँ, जो ठीक से सांस नहीं ले सकती और खर्राटे लेती है, चीफ़ के सामने उसकी झूठी प्रतिष्ठा को ठेस पहुँचाएगी।

परंतु कहानी में मोड़ तब आता है जब चीफ़ को माँ की बनाई पुरानी 'फुलकारी' (पारंपरिक कढ़ाई) पसंद आ जाती है। चीफ़ के प्रसन्न होते ही वह फालतू माँ अचानक बेटे के लिए 'उपयोगी' हो जाती है। यह कहानी अत्यंत मार्मिक ढंग से यह दर्शाती है कि आधुनिक पारिवारिक संरचना में सबसे पवित्र माने जाने वाले रक्त संबंध भी 'उपयोगितावाद' की क्रूर कसौटी पर कसे जाने लगे हैं। यदि माता-पिता आर्थिक या सामाजिक रूप से बेटे के करियर में उपयोगी हैं, तो वे परिवार का सम्मानित हिस्सा हैं, अन्यथा वे एक बोझ हैं जिन्हें समाज की नज़रों से छिपा देना चाहिए (साहनी, 1956, पृ. 108)।

3.2. 'वापसी' में पीढ़ियों का अंतराल और अपने ही घर में परायापन : उषा प्रियंवदा की कालजयी कहानी 'वापसी' (1960) सेवानिवृत्त होने के बाद घर लौटे एक पिता के अपने ही परिवार में अजनबी और अप्रासंगिक हो जाने की एक बेहद मार्मिक मनोवैज्ञानिक कथा है (प्रियंवदा, 1960, पृ. 15)। गजाधर बाबू 35 वर्षों तक रेलवे की नौकरी करते हुए परिवार से दूर छोटे स्टेशनों पर अकेले रहे, ताकि उनकी पत्नी और बच्चे (अमर, नरेंद्र, कांति, बसंती) शहर में रहकर अच्छी शिक्षा और सुविधा पा सकें। वे इसी आशा के सहारे अपना सूनापन और अभाव ढो रहे थे कि सेवानिवृत्ति के बाद परिवार के साथ आत्मीयता से रहेंगे।

परंतु जब वे अपना टिन का बक्सा, बाल्टी और डोलची लेकर घर लौटते हैं, तो पाते हैं कि उनकी उपस्थिति घर वालों के लिए असंगत, बोझिल और उनके उन्मुक्त जीवन में बाधा है। उनके युवा बेटे और बेटी उनके पुराने मूल्यों,

टोका-टाकी और अनुशासन को बिल्कुल बर्दाश्त नहीं कर पाते। बेटे अमर और बहू को लगता है कि गजाधर बाबू हमेशा बैठक में ही पड़े रहते हैं, जिससे आने-जाने वालों के लिए जगह नहीं बचती। युवा बेटा नरेंद्र तो यहाँ तक कह देता है कि बाबूजी ने घर का नौकर छुड़ा दिया है, अब वह साइकिल पर आटा पिसाने नहीं जाएगा।

पत्नी, जिसे गजाधर बाबू का सबसे बड़ा भावनात्मक सहारा होना चाहिए था, वह अपनी गृहस्थी, घी-चीनी के डिब्बों, पुरानी रजाइयों और अपनी सत्ता में इतनी रम गई है कि गजाधर बाबू उसके लिए भी केवल धनोपार्जन का एक उपकरण मात्र बनकर रह गए हैं। गजाधर बाबू अनुभव करते हैं कि पत्नी और बच्चों के लिए वे "केवल धनोपार्जन के निमित्त मात्र हैं" (प्रियंवदा, 1960, पृ. 18)। घर की सजी हुई बैठक में गजाधर बाबू की चारपाई उसी तरह बेमेल और असंगत लगती है जैसे आधुनिक उपभोक्तावादी जीवन में उनके पुराने नैतिक मूल्य। अंततः, परिवार के इस पूर्ण संवेदनहीन और हृदयहीन व्यवहार से आहत होकर गजाधर बाबू रामनगर की चीनी मिल में दोबारा नौकरी करने के लिए अपनी टूटी हुई आशाओं को बिस्तर में बांधकर वापस चले जाते हैं। यह 'वापसी' घर लौटने की नहीं, बल्कि उस घर से हमेशा के लिए निर्वासित हो जाने की है, जहाँ पिता का कोई भावनात्मक स्थान नहीं बचा।

4. महानगरीय बोध, वैवाहिक विघटन और दांपत्य त्रासदी : 1960 और 70 के दशक तक आते-आते, पारिवारिक विघटन की जड़ें केवल माता-पिता और बच्चों तक सीमित नहीं रहीं, बल्कि वे परिवार की धुरी माने जाने वाले पति-पत्नी के आपसी संबंधों तक पहुँच गईं। मोहन राकेश के नाटकों और उपन्यासों ने इस त्रासदी को बहुत गहराई और निर्ममता से पकड़ा।

4.1. 'आधे-अधूरे' और 'अंधेरे बंद कमरे' में खंडित दांपत्य और घुटन : मोहन राकेश का प्रसिद्ध नाटक 'आधे-अधूरे' (1969) आधुनिक शहरी मध्यवर्गीय परिवार के खोखलेपन, आर्थिक दबाव और स्त्री-पुरुष संबंधों में पनपती भयानक कड़वाहट का जीवंत दस्तावेज़ है (राकेश, 1969, पृ. 151)। यह नाटक सावित्री और महेंद्रनाथ के परिवार की कहानी है। सावित्री एक कामकाजी और महत्वाकांक्षी महिला है जो अपने पति महेंद्रनाथ से गहरे स्तर पर असंतुष्ट है क्योंकि वह आर्थिक रूप से असफल और परजीवी है। वह अपने जीवन में एक 'पूर्ण पुरुष' की तलाश में भटकती है और कई पुरुषों (सिंघानिया, जगमोहन, जुनेजा) से संपर्क बनाती है, लेकिन उसे हर पुरुष आधा-अधूरा ही मिलता है।

इस पारिवारिक विषाक्तता और माता-पिता के नित्य के कलह का सबसे भयानक और त्रासद परिणाम उनके बच्चों पर पड़ता है। परिवार का यह विघटन बच्चों को विक्षिप्त, दिशाहीन और आक्रामक बना देता है। बड़ी बेटी बिन्नी अपनी माँ के ही एक पुराने मित्र मनोज के साथ भाग जाती है, लेकिन वह भी अपने वैवाहिक जीवन में संत्रास भोग रही है क्योंकि वह अपने मायके की 'घुटन' को अपने भीतर लेकर गई है। बेटा अशोक विद्रोही, लापरवाह, कामचोर और कुंठित युवक बन गया है जो अपने ही परिवार वालों के तिरस्कार का शिकार है। छोटी बेटी किन्नी भी इस दमघोंटू माहौल में समय से पहले ही विकृतियों का शिकार हो रही है। मोहन राकेश यह स्थापित करते हैं कि जब दांपत्य जीवन में अहं का टकराव और असंतोष होता है, तो पूरा परिवार दीमक लगे घर की तरह भीतर से खोखला हो जाता है।

इसी प्रकार राकेश के उपन्यास 'अंधेरे बंद कमरे' में दिल्ली जैसे महानगर की जटिलताओं के बीच नीलिमा, हरबंस और मधुसूदन के माध्यम से दांपत्य संबंधों की टकराहट और विवाहित जीवन की अर्थहीनता को उकेरा गया है। महानगर का व्यक्ति अपने ही बनाए कमरों में बंद होकर घुट रहा है और उसका अकेलापन किसी एक व्यक्ति का नहीं, बल्कि पूरे आधुनिक समाज का संत्रास है।

4.2. कामकाजी स्त्री का दोहरा संघर्ष और 'जिंदगी और गुलाब के फूल' : उषा प्रियंवदा के कथा संग्रह 'जिंदगी और गुलाब के फूल' (1961) में आधुनिक कामकाजी और शिक्षित नारी के संघर्ष को दर्शाया गया है (प्रियंवदा, 1961)। जब नारी घर की चारदीवारी से निकलकर आर्थिक रूप से स्वतंत्र होती है, तो उसके भीतर अधिकारों की चेतना जागृत

होती है। परंतु, पुरुषवादी समाज उसे उसकी इस नई भूमिका में स्वीकार नहीं कर पाता। इस संग्रह की कहानियों में देखा जा सकता है कि कैसे वैयक्तिक स्वतंत्रता और पारिवारिक मूल्यों के बीच झूलती आधुनिक स्त्री अपने ही दांपत्य संबंधों में ह्रास और अकेलेपन का शिकार हो जाती है। आर्थिक स्वार्थ और आधुनिकता की चकाचौंध में पुराने संबंध टूट रहे हैं और नए संबंध पूरी तरह से खोखले साबित हो रहे हैं।

5. बाल मनोविज्ञान पर पारिवारिक विघटन का आघात: 'आपका बंटी' : पारिवारिक विघटन, विशेषकर माता-पिता के अलगाव और तलाक का बच्चों के कोमल मन पर क्या विनाशकारी प्रभाव पड़ता है, इसका सबसे मनोवैज्ञानिक और मर्मस्पर्शी अंकन मन्नू भंडारी के उपन्यास 'आपका बंटी' (1971) में हुआ है (भंडारी, 1971, पृ. 8)।

उपन्यास की नायिका शकुन एक स्वतंत्र, महत्वाकांक्षी और शिक्षित महिला (कॉलेज प्रिंसिपल) है, जिसका अपने पति अजय से अहम का गहरा टकराव होता है। दोनों अपनी-अपनी स्वतंत्रता को बनाए रखने की ज़िद में एक-दूसरे को नीचा दिखाने का प्रयास करते हैं और अंततः तलाक ले लेते हैं। अजय बाद में मीरा से और शकुन डॉ. जोशी से विवाह कर लेती है। इन सब के बीच उनका आठ-नौ वर्ष का अति संवेदनशील बच्चा 'बंटी' पिस कर रह जाता है। बंटी के लिए उसकी माँ ही उसकी पूरी दुनिया थी, लेकिन डॉ. जोशी के जीवन में आने के बाद वह अपनी ही माँ के घर में खुद को उपेक्षित महसूस करने लगता है।

लेखिका ने बंटी के बाल सुलभ मन में उठने वाले आक्रोश, असुरक्षा, ईर्ष्या और हीन भावना को बड़ी सूक्ष्मता से उकेरा है। जब शकुन पूरी तरह से तैयार होकर फूफी (घर की नौकरानी) को आदेश देती है कि बंटी का ध्यान रखे, तो बंटी बुत बना खड़ा रह जाता है। उसे लगता है कि उसकी माँ अब उसकी नहीं रही। वह सोचता है, "तीसरा बच्चा फालतू बच्चा, तीसरा बंटी फालतू बंटी" (भंडारी, 1971, पृ. 12)। वह अपने दोस्त टीटू के साथ लड़ता-झगड़ता है क्योंकि टीटू उसे तलाक के मायने समझाता है। बंटी न तो अपनी माँ के नए परिवार (जहाँ डॉ. जोशी की बच्ची सोफे पर उछलकूद करती है और बंटी सहमा खड़ा रहता है) में सामंजस्य बिठा पाता है और न ही अपने पिता अजय के कलकत्ता वाले नए परिवार में।

अंततः, अपनी व्यक्तिगत स्वतंत्रता और नए दांपत्य को बचाने की हड़बड़ी में शकुन और अजय दोनों मिलकर बंटी को हॉस्टल भेज देते हैं, जो कि बंटी के लिए किसी निर्वासन से कम नहीं है। मन्नू भंडारी ने इस उपन्यास के माध्यम से एक बहुत बड़ा समाजशास्त्रीय प्रश्न खड़ा किया है कि आधुनिकता और व्यक्तिगत स्वतंत्रता की होड़ में पति-पत्नी अपने माता-पिता होने के दायित्वों से किस हद तक विमुख हो सकते हैं। यह उपन्यास यह प्रमाणित करता है कि पति-पत्नी के अहं की लड़ाई में सबसे निर्दोष शिकार बच्चे होते हैं, जिनका पूरा मानसिक और भावनात्मक विकास अवरुद्ध हो जाता है और वे अपनी जड़ों से कट जाते हैं।

6. स्त्री विमर्श, पितृसत्तात्मक संरचना को चुनौती और यौन स्वाधीनता : हिन्दी साहित्य में पारंपरिक पारिवारिक संरचना के टूटने का एक अन्य प्रमुख कारण स्त्री चेतना का उदय और पितृसत्तात्मक मूल्यों का खुला अस्वीकार रहा है। सदियों से भारतीय परिवार का ढाँचा स्त्री के मौन, उसके त्याग और उसकी दमित इच्छाओं की नींव पर टिका हुआ था।

कृष्णा सोबती का उपन्यास 'मित्रो मरजानी' (1967) इस जड़ और शोषक संरचना पर एक सीधा, आक्रामक और बेबाक प्रहार है (सोबती, 1967, पृ. 25)। मित्रो एक ऐसी स्त्री है जो एक संयुक्त परिवार की मंझली बहू होने के बावजूद अपनी यौन इच्छाओं और दांपत्य असंतुष्टि को खुलकर और निर्भीक स्वर में व्यक्त करती है। भारतीय पारिवारिक व्यवस्था में जहाँ स्त्री की देह और इच्छाओं को पाप समझा जाता है और उससे केवल लज्जा की उम्मीद की जाती है, वहाँ मित्रो का यह उद्घोष पितृसत्ता को जड़ से हिला कर रख देता है। जब उसकी जिठानी और परिवार के अन्य सदस्य उसे उसकी मर्यादा याद दिलाते हैं, तो वह बिना किसी झिझक के अपनी बात रखती है।

मित्रो का चरित्र यह स्थापित करता है कि स्त्री केवल त्याग की मूर्ति या वंश आगे बढ़ाने वाली मशीन नहीं है; वह हाड़-मांस की एक पूर्ण मनुष्य है जिसकी अपनी आकांक्षाएँ और इच्छाएँ हैं, जो उतनी ही स्वाभाविक हैं जितनी किसी पुरुष की (सोबती, 1967)। सोबती का यह साहित्य पारिवारिक विघटन का कारण स्त्री की यौन स्वाधीनता को नहीं मानता, बल्कि यह उस 'सोच' और पाखंड को विघटित करता है जो स्त्री को देह और मन के स्तर पर गुलाम बनाकर संयुक्त परिवार का झूठा ढाँचा खड़ा करती है।

इसी प्रकार शिवानी के उपन्यास 'मैं और मेरा घर' तथा मृदुला सिन्हा की कहानियों में भी नारी के स्वाभिमान, उसके आत्मनिर्भर होने की यात्रा और सास-बहू के बदलते समीकरणों को चित्रित किया गया है, जो स्पष्ट करते हैं कि पारंपरिक भूमिकाओं के बदलने से परिवार का ढाँचा कैसे पुनर्निर्मित हो रहा है। क्षमा शर्मा के उपन्यास 'मोबाइल' में भी एक आत्मनिर्भर स्त्री (मधुलिका) का चित्रण है जो विवाह संस्था को नकार कर कुंवारी माँ बनने का साहसिक निर्णय लेती है, जो पारिवारिक संरचना के पूर्णतः नए और आधुनिक स्वरूप को दर्शाता है।

7. वैश्वीकरण, बाज़ारवाद और पीढ़ियों का अंतराल : इक्कीसवीं सदी के द्वार पर खड़ा भारतीय परिवार भूमंडलीकरण, नव-उदारवाद और बाज़ारवाद के थपेड़ों से अछूता नहीं रहा। अब पारिवारिक संबंध भावनाओं के बजाय 'उपभोक्ता संस्कृति' और निजीकरण से संचालित होने लगे हैं।

अलका सरावगी का साहित्य अकादमी पुरस्कार से सम्मानित उपन्यास 'कलिकथा वाया बाईपास' (1998) एक मारवाड़ी परिवार की कथा के माध्यम से पूरे राष्ट्र और समाज में हो रहे इस क्रमिक विघटन को पकड़ता है (सरावगी, 1998, पृ. 216)। उपन्यास का नायक किशोर बाबू हार्ट बाईपास सर्जरी के बाद मानसिक रूप से अतीत में लौट जाता है और कलकत्ता की सड़कों पर भटकता है। उसका यह भटकाव दरअसल उस पूरी पीढ़ी का भटकाव है जो अपने ही बनाए गए नए 'आधुनिक' समाज में खुद को अजनबी और अप्रासंगिक पा रही है।

लेखिका ने उपन्यास में दर्शाया है कि कैसे वैश्वीकरण ने नई पीढ़ी (जैसे किशोर बाबू की नातिन कादंबरी) और पुरानी पीढ़ी (किशोर बाबू, रूबी दी) के बीच एक गहरी खाई पैदा कर दी है। नई पीढ़ी के पास अपने करियर, विज्ञापनी दुनिया और बाज़ार के लिए तो समय है, लेकिन अपने परिवार के बुज़ुर्गों के साथ बैठकर दो पल बात करने का समय नहीं है। कादंबरी की भागदौड़ से रूबी दी परेशान रहती हैं कि "कुछ देर ठहर कर तो मुझसे बात कर ही सकती है"। "ऑफिस संस्कृति" और निजीकरण की अंधी दौड़ ने संबंधों को इतना सतही बना दिया है कि परिवार अब एक छत के नीचे रहने वाले अजनबियों का समूह बनकर रह गया है।

इसी प्रकार, गोविन्द मिश्र के उपन्यास 'धीर समीर गंभीर' और 'रेहन पर रग्घू' (काशीनाथ सिंह) जैसे समकालीन उपन्यासों में भी 'लिव-इन रिलेशनशिप' और ग्रामीण युवाओं के विस्थापन के कारण टूटते पारिवारिक संबंधों का सजीव चित्रण मिलता है। 'रेहन पर रग्घू' में संजय अपनी पत्नी सोनल को छोड़कर आरती के साथ लिव-इन में रहता है, जो पश्चिमीकरण और उन्मुक्त भोग की लालसा के कारण भारतीय पारिवारिक मूल्यों के पूर्ण स्खलन का संकेत है।

8. साहित्यिक कृतियों का विषयगत एवं समाजशास्त्रीय वर्गीकरण : विभिन्न उपन्यासों और कहानियों में पारिवारिक संरचना और विघटन के मूल कारणों को समझने के लिए निम्नलिखित तालिका एक स्पष्ट और तुलनात्मक संरचना प्रस्तुत करती है:

क्र.	रचना का नाम (प्रकाशन वर्ष)	रचनाकार	पारिवारिक विघटन का मुख्य कारण एवं विषयवस्तु
1	गोदान (1936)	मुंशी प्रेमचंद	आर्थिक विपन्नता, ऋणग्रस्तता, महाजनी सभ्यता का दबाव और कृषक परिवार (गोबर) का शहरी विस्थापन।

क्र.	रचना का नाम (प्रकाशन वर्ष)	रचनाकार	पारिवारिक विघटन का मुख्य कारण एवं विषयवस्तु
2	चीफ़ की दावत (1956)	भीष्म साहनी	मध्यवर्गीय अवसरवादिता, नैतिक पतन, और वृद्ध माता-पिता का 'अनुपयोगी' वस्तु में बदलना।
3	वापसी (1960)	उषा प्रियंवदा	सेवानिवृत्ति के पश्चात पिता (गजाधर बाबू) का परायापन, उपयोगितावाद, पीढ़ी संघर्ष और अर्थ की प्रधानता।
4	मित्रो मरजानी (1967)	कृष्णा सोबती	पितृसत्तात्मक संरचना का विरोध, स्त्री की देह-चेतना, यौन स्वाधीनता और दांपत्य असंतोष।
5	आधे-अधूरे (1969)	मोहन राकेश	महानगरीय बोध, पति-पत्नी में अहं का टकराव, जीवन में अधूरेपन की कुंठा और दिशाहीन, विद्रोही संतानें।
6	आपका बंटी (1971)	मन्नू भंडारी	वैवाहिक विघटन (तलाक), स्त्री-पुरुष की वैयक्तिक स्वतंत्रता की होड़ और बाल मनोविज्ञान पर पड़ने वाला गहरा मानसिक आघात।
7	कलिकथा वाया बाईपास (1998)	अलका सरावगी	भूमंडलीकरण, उपभोक्तावाद, बाज़ारवाद के कारण सांस्कृतिक मूल्यों का पतन और अंतर-पीढ़ी संवेदनहीनता।
8	रेहन पर रग्घू	काशीनाथ सिंह	'लिव-इन रिलेशनशिप' की नई संस्कृति, पश्चिमीकरण का प्रभाव और वैवाहिक संस्था का पूर्ण तिरस्कार।

(नोट: यह तालिका शोध पत्र के दौरान संकलित साक्ष्यों और पाठ्य-विश्लेषण का संरचनात्मक सारांश है।)

9. संश्लेषण और गहन अंतर्दृष्टि : उपरोक्त साहित्यिक कृतियों के गहन विश्लेषण से पारिवारिक संरचना में हो रहे बदलावों के संदर्भ में कई द्वितीयक और तृतीयक स्तर की समाजशास्त्रीय अंतर्दृष्टियाँ उभर कर सामने आती हैं:

अर्थ (पैसे) का प्रभुत्व और संबंधों का व्यावसायिकरण : औद्योगीकरण और बाज़ारवाद ने मनुष्य को एक मशीन में तब्दील कर दिया है। 'वापसी' के गजाधर बाबू हों या 'चीफ़ की दावत' की वृद्ध माँ, दोनों ही मामलों में परिवार व्यक्ति की कीमत उसके द्वारा लाए गए 'आर्थिक लाभ' से तय करता है। जब आर्थिक लाभ समाप्त हो जाता है, तो परिवार का स्नेह भी सूख जाता है। यह स्पष्ट करता है कि आधुनिक परिवार भाव-प्रधान न होकर पूरी तरह से अर्थ-प्रधान हो गया है।

नारी सशक्तिकरण बनाम पारिवारिक दायित्व का अंतर्द्वंद्व : 'आपका बंटी' और 'आधे-अधूरे' जैसे उपन्यास यह दर्शाते हैं कि स्त्री जब अपनी आर्थिक और वैयक्तिक स्वतंत्रता के प्रति जागरूक हुई, तो पारंपरिक ढाँचा चरमरा गया। स्त्री का यह जागरण ऐतिहासिक रूप से आवश्यक था, किंतु पुरुषवादी मानसिकता ने इस परिवर्तन को सहर्ष स्वीकार नहीं किया। परिणामतः, घर एक रणक्षेत्र बन गया। शकुन और सावित्री का चरित्र यह जटिल समाजशास्त्रीय सवाल उठाता है कि क्या स्त्री की स्वतंत्रता और मातृत्व/पारिवारिक स्थिरता के बीच संतुलन संभव है, या एक की कीमत दूसरे को चुकानी ही पड़ेगी?

'स्व' की खोज और सामूहिकता का अंत : पारंपरिक परिवार में व्यक्ति का अपना कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं था; वह 'हम' का हिस्सा था। परंतु आधुनिकता ने 'स्व' को जन्म दिया। अपनी व्यक्तिगत इच्छाओं, करियर और निजता की अंधी चाह ने संयुक्त परिवार की बलि ले ली। आज का व्यक्ति अपने कमरे के 'अंधेरे बंद' स्पेस में रहना पसंद करता है, जहाँ संवादहीनता ही सबसे बड़ा संवाद बन गई है।

विस्थापन का मनोवैज्ञानिक और सांस्कृतिक प्रभाव : प्रेमचंद के 'गोदान' का गोबर जो गाँव छोड़कर शहर गया था, वह मात्र एक भौगोलिक और आर्थिक विस्थापन था। लेकिन अलका सरावगी के 'कलिकथा वाया बाईपास' और श्रीलाल शुक्ल के 'राग दरबारी' तक आते-आते यह विस्थापन पूर्णतः मनोवैज्ञानिक और सांस्कृतिक हो गया है। आज व्यक्ति अपने ही घर के भीतर, अपने ही बच्चों के बीच एक 'प्रवासी' की तरह महसूस करता है।

10. निष्कर्ष : हिन्दी कथा साहित्य में बदलती पारिवारिक संरचना और विघटन का चित्रण मात्र समाज का एक निष्क्रिय दर्पण नहीं है, बल्कि यह मानव मन की गहराइयों और आधुनिक सभ्यता के संकट का एक सजीव एक्स-रे है। मुंशी प्रेमचंद से लेकर अलका सरावगी तक की यह लंबी साहित्यिक यात्रा यह प्रमाणित करती है कि पारिवारिक विघटन कोई एकाएक घटी घटना नहीं है, बल्कि यह आर्थिक दबावों, महानगरीय संत्रास, स्त्री-विमर्श के नए आयामों और नव-उदारवादी बाज़ारवाद के तहत पनपी एक क्रमिक ऐतिहासिक प्रक्रिया है।

साहित्यकारों ने बड़ी ईमानदारी से यह दिखाया है कि जब व्यक्तिगत इच्छाएँ, अहंकार और भौतिक लिप्सा मानवीय संवेदनाओं पर हावी हो जाती हैं, तो रिश्ते किस प्रकार दम तोड़ देते हैं। आज का परिवार एक ऐसे दोराहे पर खड़ा है जहाँ पुरानी परंपराएँ पूरी तरह से टूट चुकी हैं और नई स्वस्थ परंपराएँ अभी तक अपना स्पष्ट आकार नहीं ले पाई हैं। इस संक्रमण काल में साहित्य हमें यह स्पष्ट चेतावनी देता है कि यदि हम अपनी आत्मीयता, संवाद और संवेदनाओं को नहीं बचा पाए, तो भविष्य का समाज केवल एक ही छत के नीचे रहने वाले अजनबियों का एक निष्ठुर समूह बनकर रह जाएगा। अतः, आधुनिकता की दौड़ में व्यक्तिवाद और पारिवारिक सामूहिकता के बीच एक नया, प्रगतिशील और परिपक्व सामंजस्य स्थापित करना आज की सबसे बड़ी सामाजिक आवश्यकता है।

11. सन्दर्भ सूची :

1. भंडारी, म. (1971). *आपका बंटी*. नई दिल्ली: अक्षर प्रकाशन.
2. प्रेमचंद, म. (1936). *गोदान*. मुंबई: हिंदी ग्रंथ रत्नाकर.
3. प्रियंवदा, उ. (1960). वापसी. *हिंदी कहानी संग्रह*.
4. प्रियंवदा, उ. (1961). *जिंदगी और गुलाब के फूल*. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन.
5. राकेश, म. (1969). *आधे-अधूरे*. नई दिल्ली: राधाकृष्ण प्रकाशन.
6. राकेश, म. (1961). *अंधेरे बंद कमरे*. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन.
7. राय, गो. (2025). *हिन्दी उपन्यास का इतिहास*. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन.
8. सरावगी, अ. (1998). *कलिकथा वाया बाईपास*. कलकत्ता.
9. साहनी, भी. (1956). चीफ़ की दावत. *पहला पाठ* में. हापुड़: शीर्षक प्रकाशन.
10. सिंह, ना. (1964). *कहानी: नयी कहानी*. इलाहाबाद: लोकभारती प्रकाशन.
11. शर्मा, रा. (2014). *प्रेमचंद और उनका युग*. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन.
12. सोबती, कृ. (1967). *मित्रो मरजानी*. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन.

•